आधुनिक धार्मिक एकता के परिप्रेक्ष्य में तुलसी साहित्य व महावीर वाणी में भाव-साम्य

श्री जगत भंडारी

धर्म मानव को मानव से जोड़ता है तथा एक ऐसे अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचा देता है जहां सभी मतभेद समाप्त हो जाते हैं तथा साम्प्रदायिक घेरा बंदी छिन्न-भिन्न हो जाती है, यदि कुछ शेष बचता है तो वह है 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'। जैन धर्म की आधारशिला दर्शन के इन्हीं गहन विचारों पर आधारित है और इसका दर्शन तर्क की उस कसौटी से अनुप्राणित है जिसमें अनेकान्तवाद का सप्तरंगी इन्द्रधनुष अपनी आभा से स्वयं तो कांतिमान् है ही, समग्र दर्शन जगत् के भाव-वैविध्य को भी समता और एकता का आलोक प्रदान करता है। ऐसा कभी हो नहीं सकता कि वीतरागी की वाणी पक्षपात पूर्ण हो अथवा अल्पकालिक महत्त्व को लिए हुए हो। उसके पीछे केवल एक ही भावना रहती है—मानव-कल्याण हेतु मार्ग प्रशस्त करना। धार्मिक सद्भावना आज के युग की अत्यावश्यक मांग है। इतिहास के किसी युग में शायद ऐसा रहा था जब मतभेदों को उभारकर मानव-मानव के बीच कृत्रिम दीवारें खड़ी की गईं परन्तु आज बीसवीं सदी के चिन्तक एक ऐसे धर्म की कल्पना को संजोए हुए हैं जिसमें सभी धार्मिक विचारों का ऐक्य समाहित हो और साम्प्रदायिक तनाव को समाप्त किया जाए। इसी उद्देश्य से अनुप्रेरित होकर प्रस्तुत लेख में हिन्दू धर्म तथा जैन धर्म के धार्मिक सद्भाव एवं वैचारिक समता का दिग्दर्शन कराया गया है जो क्रमशः गोस्वामी तुलसी दास तथा भगवान् महावीर की वाणी पर आधारित है।

हिन्दी साहित्य-संसार में श्रीराम-काव्य रूपी 'कोर' के संयोजक गोस्वामी तुलसीदास ने—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि, स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथाभाषा निबद्धमतिमंजुलमातनोति कह कर अपने काव्य में वेद-शास्त्र-पुराणों, सभी राम काव्यों तथा 'कतिपय अन्य' के समावेश की घोषणा कर दी। यह 'क्वचिदन्यतोपि' इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय इसलिए है कि जिन 'अन्यों' से तुलसी का भावनात्मक सामंजस्य नहीं भी हो सका था उनकी भी विशेष भाव-कलियों को उन्होंने अपनी काव्य-वाटिका में सुसज्जित कर दिया। इस भाव से जब हम तुलसी साहित्य का, विशेष रूप से उनके ग्रन्थसम्राट् श्री रामचरितमानस का अध्ययन करते हैं तो हमें कई स्थलों पर महावीर वाणी के दर्शन होते हैं। वाणी का यह समावेश कई स्थलों पर तो प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है और कई स्थलों पर अप्रत्यक्ष रूप में। निश्चय ही इससे तुलसी की मानसिक विराटता और गुण ग्राहकता की पुष्टि होती है।

सर्व प्रथम अहिंसा को ही लें। प्रातः स्मरणीय भारत गौरव आचार्य रत्न १०८ श्री देशभूषण महाराज के कथनानुसार संसार के सभी धर्मों में परम व सर्व स्वीकार्य अहिंसा ही है। जब तक विषय कषाय में मानव प्राणों का उपभोग लगा रहेगा तब तक उनको पूर्ण अहिंसात्मक आत्म सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी श्री रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में रामराज्य-प्रसंग में अहिंसा के इसी मत का अपने शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरू बिसराईं। सबहिं परस्पर प्रीति बढ़ाईं॥
कूजहिं खग-मृग नाना वृन्दा। अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा॥

तुलसी के विचार में पूर्ण अहिंसा भगवान् की कृपा से ही संभव है। वह केवल मनुष्यों में ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों में भी उपज सकती है। आगे मानव-धर्म का निर्देश करते हुए तुलसी दास कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाईं॥
नर शरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥

करहिं मोहबन नर अध नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
काल रूप तिन्ह कहं मैं आता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता॥
तुलनीय—**वसुधम्मि वि विहरंता पीडंण करेंति कस्सइ कवाईं।**
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तंभदेमु॥

मूलाचार के इस पद में साधुजनों के जिस स्वभाव का वर्णन किया गया है उसे ही तुलसी ने अपने श्रीरामचरितमानस में इस प्रकार कहा है—

बंदऊ सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलि गत शुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोउ॥

महावीर वाणी में जहां सन्तों को सभी पर वात्सल्य रखने की बात कहकर उन्हें माता की उपमा दी है वहाँ तुलसी ने उन्हें सुगन्धित पुष्प कहकर सारे वातावरण को सुगन्धित करने वाला बना दिया। बात एक ही है परन्तु मां का वात्सल्य तो केवल अपने ही पुत्र पर होता है किन्तु सुगन्धित पुष्प द्वारा पूरे समाज को सुगन्धित करने की बात से निश्चय ही 'साधु' की 'साधुता' भली भांति प्रतिष्ठित कर दी गई है।

जीववहो अप्पवहो, जीविदया अप्पणो दया होइ॥

"भक्त परीक्षा" की इस उक्ति की तुलसी ने लोक भाषा में कितनी मनोहारी व्यंजना की है!—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

पहले में दूसरे का वध करना अपना वध और दूसरे पर दया करना अपने पर ही दया करना बताया गया है किन्तु तुलसी ने इसी बात को 'परहित' के समान कोई धर्म नहीं और 'परपीड़न' के समान कोई पाप नहीं कहकर अप्रत्यक्ष रूप से महावीर के 'अहिंसा' सिद्धान्त का ही प्रतिपादन कर दिया है।

पापस्सागमदार असच्चवयणं अर्थात् असत्य वचन पाप के आगमन के लिए द्वार के समान है—महावीर जी की इसी वाणी के तुलसी-साहित्य में इस प्रकार दर्शन होते हैं—

नहिं असत्य सम पातक पुंजा, अर्थात् असत्य के समान कोई पापों का समूह नहीं है। एक में असत्य को पापों के आगमन का द्वार बताया गया है और दूसरे में स्वयं पाप-समूह।

वेरग्गपरो साहु परदव्वपरम्मुहो य जो होदि।

अर्थात् जो परद्रव्य से विरक्त होता है वही साधु वैरागी होता है इस महावीर वाणी का तुलसी ने कितना सुन्दर विवेचन किया है—

परधन पत्थर मानिये परतिय मातु समान।
इतने से हरि ना मिलें तुलसीदास जुबान॥

भक्त कवि की अपने 'हरि' के पति भावुकता सचमुच मनोहारी है।

जीवो बंभा जीवम्मि द्वारा महावीर वाणी में जीव में ब्रह्म का आरोपण किया गया किन्तु गोस्वामी जी ने—**ब्रह्म जीव इव सहज संघाती** कहकर दोनों का पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखकर उनके साहचर्य का भी निर्देश कर दिया है।

जो मण्णदि पर-महिलं जणणी-बहिणी-सुआइ सारिच्छं।
मण-वयणे काएण वि बंभ-वई सो ह्वे थूलो॥

अर्थात् जो मन, वचन और शरीर से पराई स्त्री को माता, बहिन और पुत्री के समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचारी है। महावीर-वाणी के इस भाव का तुलसी साहित्य में अनेक स्थलों पर विशद वर्णन किया गया है। यथा—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुन सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहिं कुदृष्ठि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥

एक की वाणी में पराई स्त्री को माता, बहिन और पुत्री मानने वाला ब्रह्मचारी है तो दूसरे के विचार में ऐसा न मानने वाले को मार देने में भी कोई पाप नहीं है। इतना ही नहीं अपितु तुलसी इस मामले में कुछ और भी आगे बढ़ गए प्रतीत होते हैं—

परद्रोही परदार रत पर धन पर अपवाद।
ते नर पामर पापमय देह धरें मनुजाद॥

तुलसी ने पर स्त्री विषयक नैतिकता के साथ ही लोकाचार की कतिपय अन्य विविधताओं को भी इसमें जोड़ दिया। अर्थात् दूसरे से द्रोह, दूसरे की नारी में आसक्ति, पर धन पर दृष्टि और दूसरों के विषय में विवाद फैलाने वाला नीच, पशु, पापी है और केवल मानुष देह धारण कर उसे कलंकित कर रहा है।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं—दुख काम-भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न होता है।

महावीर जी की इस वाणी के दिग्दर्शन हमें तुलसीकृत रामचरित मानस के किष्किन्धाकाण्ड में होते हैं। यहां वानरराज सुग्रीव श्रीरामचन्द्र महाराज से कहते हैं—

नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करन क्षण माहीं॥

इसी प्रकार—

जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणग-स्व-सव्वं सो सत्यं जाणदे सव्वं॥

अर्थात् महावीर वाणी के अनुसार जो अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वतः भिन्न तथा ज्ञापक स्वरूप जानता है, वह सब शास्त्रों को जानता है।

शरीर और आत्मा की इसी भिन्नता को तुलसी साहित्य में और भी स्पष्ट कर दिया गया है—

तुलसी काया खेत है, मनसा भयो किसान।
पाप पुण्य दुइ बीज हैं, बुऐ को लीन्हें दान॥

शरीर को आत्मा से पृथक् मानने के सिद्धान्त की पुष्टि बाली-वध प्रसंग में भी होती है। वहां बाली के मृत शरीर के पास बैठी तारा को उपदेश देते हुए श्रीरामचन्द्र कहते हैं—

क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंच रहित यह अधम शरीरा॥
प्रकट सो तनु तम आगे सोवा। जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा॥

अर्थात् शरीर पांच तत्त्वों से निर्मित पदार्थ है किन्तु जीव यानि आत्मा नित्य और शाश्वत है।

ण जीवो जदुसहावो। जीवो सचेयणो ति॥

जीव जड़ स्वभाव वाला नहीं है। जीव सचेतन है। तुलसी ने इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

'श्रमण' की जो-जो विशेषतायें महावीर वाणी में व्यक्त की गई हैं वही विशेषतायें तुलसी के रामचरितमानस में भगवान् के 'अनन्य सेवक' के लिए व्यक्त की गई हैं—

(१) **समणो सम सुह दुक्खो**—प्रवचनसार
अर्थात् जो सुख दुःख में समता भाव रखता है वह श्रमण है।
(२) **सम सुह-दुक्ख सहे य जे स भिक्खू,**— दशवैकालिक सूत्र।
अर्थात् जो समान रूप से सुख-दुःख को सहन करता है, वह भिक्षु है।
(३) **समलोट्ठुकंचणो पुण जीविद मरणे समो समणो।**—प्रवचनसार—
अर्थात् जो मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में तथा जीवन-मरण में समान भाव रखता है, वह श्रमण है।

श्रमण की उपरोक्त मूल चेतना श्रीरामचरितमानस के उत्तर काण्ड के निम्न पद में अभिलक्षित है—

नहिं राग न लोभ न मान मदा। तिनके सम बैभव वा विपदा।
यहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा॥
करि प्रेम निरन्तर नेम लिए। पद पंकज सेवत शुद्ध हिए।
सम मानि निरादर आद रही। सब संत सुखी बिचरंत मही॥"

और

सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देश-काल तहं नाहीं।
तुलसीदास यहि दशाहीन संसय निरमूल न जाही॥--विनय पत्रिका

महावीर वाणी के अनुसार श्रमण की कतिपय अन्य विशेषताओं का भी दर्शन-साम्य तुलसी-साहित्य में असंदिग्ध है---

(१) **जुत्ताहार विहारो रहिदकसाओ हवे समणो** ।—प्रवचनसार
अर्थात् उपयुक्त आहार-विहार से युक्त तथा कषायों से रहित श्रमण होता है।

(२) **समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे** —प्रश्नव्याकरण
अर्थात् जो सभी प्राणियों पर सम भाव रखता है वही श्रमण है।

(३) **दंसणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो** ।—प्रवचनसार
अर्थात् दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण श्रमण को संयत कहा गया है।

(४) **सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।**
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिव सिद्धो णमो तस्स ॥—प्रवचनसार

अर्थात् शुद्धोपयोग को श्रमणत्व कहा गया है और शुद्ध को दर्शन तथा ज्ञान। शुद्ध को निर्वाण होता है और वही सिद्ध होता है। उस सिद्ध को नमस्कार है।

(५) **सत्तू मित्ते य समा**—बोधपाहुड
अर्थात् जो शत्रु और मित्र में समभाव रखता है, वह श्रमण है।

तुलसी की निम्नोक्त चौपाइयों में भक्त की जो विशेषतायें व्यक्त की गई हैं वे निश्चय ही श्रमण के उपरोक्त गुणों का ही पर्याय हैं—

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ-सन्तोष सदाई।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा अब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी।
प्रीति सदा सज्जन-संसर्गी। तृन सम विषय-स्व-अपवर्गी॥

महावीर-वाणी के अनुसार निर्मल मन वाले को श्रमण कहा गया है—**तो समणो जय सुमणो**—
और तुलसी भी कुछ इसी प्रकार सच्चे भक्त की पहचान बताते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

तुलसी तो यहां तक कह गए हैं कि—

रसना सांपिनि बदन बिल जो न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि विधाता बाम॥

महावीर वाणी में 'परिग्रह' त्याज्य माना गया है—

(१) **लोभ-कलि-कसाय-महक्खंघो**, प्रश्नव्याकरण
परिग्रह रूपी वृक्ष के तने लोभ, क्लेश और कषाय हैं।

(२) **णिग्गंथो वि विसएसु**—भगवती आराधना
अपरिग्रही होने से विषय अभिलाषाओं का अभाव हो जाता है।

(३) **आचेलक्को धम्मो पुरिमचराणं**— मूलाराधना
साधु को सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

(४) **सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो** ।—मूलाराधना
जो साधू सभी वस्तुओं की आसक्ति से मुक्त होता है, वही जितेन्द्रिय तथा आत्मनिर्भर होता है।

(५) **असज्जमाणो अपडिबद्धे या वि विहरइ**—उत्तराध्ययनसूत्र
जो अनासक्त है, वह सर्वत्र निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करता है।

(६) **सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था**— स्थानांगसूत्र
सर्वत्र भगवान् ने निष्कामता को श्रेष्ठ कहा है। 'परिग्रह' से विरक्ति की प्राप्ति होती है। इसी को भक्त का प्रमुख

लक्षण मानकर तुलसी ने अयोध्याकाण्ड में महर्षि वाल्मिकि के श्रीमुख से कहलाया है—

काम मोह मद मान न मोहा। लोभ न क्षोभ न राग न द्रोहा ।।
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया ।।

'अपरिग्रह' के समर्थन में तो तुलसी यहां तक कह गए कि—

जहां राम तहं काम नहिं, जहां काम नहिं राम।
एक संग निगसत नहीं, तुलसी छाया धाम ।।

'द्रव्य अपरिग्रह' के सन्दर्भ में भी तुलसी ने लोकेषणाओं को अत्यन्त सीमित करते हुए कहा है—

'तुलसी' इतना दीजिये जामें कुटुम्ब अघाइ। मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाई ।।

इस प्रकार तुलसी साहित्य में तथा जैनानुसारी अपरिग्रह भावना में कई स्थलों पर एक रूपता दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार महावीर वाणी में कई स्थानों पर 'सदाचार' की महिमा का बखान किया गया है। आचारहीन जन—भक्ति के क्षेत्र में पदार्पण ही नहीं कर सकते हैं। इसी सदाचार को तुलसी ने श्रीरामचरित मानस में 'गृहस्थ' के लिए 'मर्यादा' के रूप में और भक्तों के लिए वैराग्य के रूपमें प्रतिष्ठित किया है।

(१) **उदधीव रदण भरि दो तव विणयं सीलदाणरयणाणं।**
सोहेतो य ससीलो णिव्वाण मणुत्तरं पत्तो ।।—शीलपाहुड

जैसे समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ है, वैसे ही आत्मा में तप, विनय, शील, दान रत्न हैं। किन्तु जैसे जल होने पर ही समुद्र कहा जाता है, वैसे शील सहित होने पर ही मनुष्य उत्तम पद-निर्वाण प्राप्त करता है।

(२) **णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्तवाणा ही।**
भव सागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णि पायेण ।।—मूलाचार

जहाज चलाने वाला ज्ञान है, ध्यान हवा है और चरित्र नाव है। इन तीनों के मेल से भव्य जीव संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

(३) **भल्लाण वि णासंति गुण जहिं सहु संगु खलेहि**—पाहुडदोहा
दुष्ट जनों की संगति से भले पुरुषों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं।

(४) **भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कम्मई दिवं।**—उत्तराध्ययन
चाहे साधु हो या गृहस्थ, यदि सुव्रती व सदाचारी है तो दिव्य गति को प्राप्त होता है।

तुलसी ने भी अपने आराध्य श्रीराम में आदर्श गुणों से युक्त पुरुष की कल्पना करते हुए लिखा है—

चारिउ रूप शील गुण धामा। तदपि अथक सुख सागर रामा ।।

इस पद द्वारा तुलसी ने रूप, शील और गुणों का धाम बताकर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को शक्ति, शील और सौंदर्य की मूर्त्ति बना दिया है। इससे महावीर वाणी के मूल भाव की अभिव्यंजना भी स्वयमेव हो जाती है।

संसार समुद्र से पार जाने के लिए तुलसी ने उपरोक्त शील सागर श्रीराम के नाम और भक्ति को सुदृढ़ आधार माना है। राम-भक्ति के जहाज में चढ़कर ही प्राणी भव सागर पार हो जाता है। अलबत्ता भक्ति के क्षेत्र में तुलसी, ज्ञान की महत्ता को कम न आंकते हुए भावना को अधिक प्रतिष्ठापित करते हैं।

उन्होंने जीवन के नाट्य मंच पर आने वाले विभिन्न पात्रों के लिए अनेक स्थलों पर आचार-संहिता ही बना दी है। 'मुखिया' का आचरण तुलसी के मत से इस प्रकार का होना चाहिए :—

मुखिया मुख सों चाहिये खान पान कहं एक।
पाले पोषै सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी साहित्य में अनेक स्थलों पर महावीर वाणी के दर्शन किए जा सकते हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि तुलसी ने महावीर जी की विभिन्न वाणियों एवं सिद्धान्तों की बेलों को अपने महाकाव्य के चौखटे में आवेष्ठित 'श्रीराम-कथा' की पावन मूर्त्ति के साथ देश, काल और पात्रानुकूल 'संवलित' कर दिया है। लेकिन जहां भी ऐसे स्थल आए हैं वहां भगवान् महावीर और गोस्वामी तुलसीदास के वचनामृत उदारता और परोपकारिता के मानवीय मूल्यों से मुखरित हुए हैं।